4.3. वैदिक सभ्यता (ऋग्वैदिक सभ्यता) *[The Vedic Civilization (Rigvedic Civilization)]*

ऋग्वेद से इस सभ्यता के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है। इस काल की सभ्यता की जानकारी के लिए पुरातात्त्विक सामग्री नहीं के बराबर हैं। इसी युग के दौरान आर्य-सभ्यता के मूल तत्त्वों की स्थापना हुई, जिनका विकास उत्तर-वैदिक काल में हुआ।

4.3(a). आर्यों की राजनीतिक अवस्था *(Political Condition)*

ऋग्वेद आर्यों के प्रारंभिक राजनीतिक जीवन से हमारा परिचय कराता है। भारत आकर सप्तसिंधु-प्रदेश में बसने के पश्चात आर्यों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। इस क्षेत्र पर अधिकार करने के लिए उन्हें निरंतर संघर्ष करना पड़ा। यह संघर्ष दो प्रकार का था—स्वयं आर्यों के विभिन्न कबीलों में संघर्ष तथा अनार्यों से युद्ध। आर्य जिस समय भारत आए, वे विभिन्न कबीलों में विभक्त थे। ये कबीले रक्त-संबंध पर संगठित थे। इन कबीलों में प्रमुख थे भरत (ब्रह्मावर्त-क्षेत्र में), मत्स्य (भरतपुर), अनुस तथा द्रुह्यु (पंजाब), तुर्वसु (दक्षिण-पूर्व), यदु (पश्चिम) और पुरु (सरस्वती नदी के आसपास के क्षेत्र में)। इन कबीलों में अधिक भूमि, पशु तथा पशुओं के लिए चरागाह प्राप्त करने के लिए युद्ध (**गविष्टि, गोषु, गव्य, गभ्य**) हुआ करते थे। कबीलाई युद्धों का एक अन्य कारण था—दूसरे कबीले पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने की लालसा। **ऋग्वेद** में जो सबसे प्रमुख कबीलाई युद्ध वर्णित है, वह है 'दस राजाओं का युद्ध (Battle of ten kings)'। कुछ विद्वानों की धारणा है कि इस युद्ध में दस से अधिक (करीब तीस राजाओं) ने भाग लिया था। यह युद्ध भरत कबीले के राजा सुदास के नेतृत्व में लड़ा गया था। सुदास द्वारा अपमानित किए जाने पर विश्वामित्र ने 'पंचजनों' (अणु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वसु और पुरु) के साथ अन्य कबीलों (**जन**) को भी संगठित कर युद्ध किया। यह युद्ध परुष्णी (रावी) नदी के तट पर लड़ा गया। इस युद्ध में सुदास की विजय हुई। फलस्वरूप, उसकी और उसके कबीले की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई।

आंतरिक संघर्षों के अतिरिक्त आर्यों को भारत-आगमन के साथ अनार्यों से भी संघर्ष करना पड़ा। अनार्य जातियों में अज, यक्ष, किकट, पिशाच, शिश्रु इत्यादि का उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में इन अनार्यों को **पणि, दास** या **दस्यु** के नाम से पुकारा गया है। इनकी पहचान निश्चित नहीं है। **पणि** पशु-संपत्ति की दृष्टि से समृद्ध होने के बावजूद आर्यों के मवेशी चुरा लेते थे। चूँकि आर्यों के आर्थिक जीवन में पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था, इसलिए आर्यों को अपने मवेशियों की रक्षा के लिए इनसे संघर्ष करना पड़ता था। आर्यों और पणियों के बीच युद्ध का दूसरा कारण यह था कि **पणि** वैदिक पुरोहितों का सम्मान नहीं करते थे और न ही वैदिक धर्म को मानते थे। ये पणि संभवतः भारत के मूल निवासी थे। **दास** एवं **दस्युओं** की पहचान भी निश्चित नहीं है। साधारणतया इन्हें भी भारत का मूल निवासी या सिंधु-सभ्यता

का वासी माना गया है। एक संभावना यह भी है कि "ये लोग आर्यों के विभिन्न दलों के प्रतिनिधि हों और कुछ सांस्कृतिक एवं सैद्धांतिक मतभेदों के कारण दास करार दिए गए हों। ....दास एवं दस्यु भारत की आदिम अनार्य जाति ही नहीं, अपितु आर्यों के ही वे अंश हो सकते हैं, जो विभिन्न समय में भारत आए और जो सांस्कृतिक भिन्नताएँ रखते थे।" ये आर्यों के दुश्मन थे और इनका संघर्ष आर्यों से होता रहता था। आर्यों के युद्ध-देवता इंद्र ने अनेक दासों का संहार किया। घोड़े और रथ के व्यवहार से आर्य अनार्यों पर सुगमता से विजय प्राप्त कर सके। बाद में इन दस्युओं में अनेकों को पराजित कर आर्यों ने इन्हें अपना दास या गुलाम बना लिया।[1]

राजनीतिक संगठन एवं प्रशासनिक व्यवस्था—आरंभ में (पूर्व-वैदिक काल) आर्यों का राजनीतिक संगठन एवं प्रशासनिक व्यवस्था शिशु-अवस्था में थी। रक्त-संबंधों के आधार पर कुटुंब, कुल या परिवार संगठित होते थे। इसका प्रधान **कुलप** या **कुलपति** कहलाता था। वह परिवार का मुखिया होता था। कुटुंब ही सबसे छोटी प्रशासनिक इकाई थी। अनेक परिवारों को मिलाकर ग्राम बनता था, जिसका प्रधान **ग्रामणी** कहलाता था। अनेक ग्रामों को मिलाकर **विश** बनता था, जिसका प्रधान **विशपति** होता था। अनेक विशों का समूह **जन** या **कबीला** कहलाता था। इसका प्रधान **राजा** या **गोप** कहलाता था। **जनपद, राष्ट्र** या **राज्य** की अवधारणा भी वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में स्थापित हुई।

ऋग्वैदिक काल में शासन का प्रधान **राजन (गोप, गोपति, जनराजन्, विशपति)** हुआ करता था। राजतंत्र की आवश्यकता तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के चलते ही हुई। युद्ध में कबीले का नेतृत्व करने के लिए ही राजा की आवश्यकता पड़ी। उसका प्रमुख कार्य युद्ध में विजय दिलवाना था। इसके साथ-साथ वह कबीले में रहनेवालों और उनकी संपत्ति की भी सुरक्षा करता था। राजा यद्यपि अपने कबीले का प्रधान हुआ करता था, तथापि उसका पद वंशानुगत नहीं था। कबीले में रहनेवाले व्यक्ति सबसे योग्य व्यक्ति को अपना राजा चुनते थे। राजा के अधिकार अत्यंत सीमित थे। उसका अधिकार अपने कबीले तक सीमित था। इस समय के राजा को भगवान का अवतार नहीं समझा जाता था, बल्कि वह कबीले का सबसे योग्य व्यक्तिमात्र माना जाता था। राजा की न तो अपनी निजी सेना थी और न ही उसकी आमदनी का कोई निश्चित जरिया। फलस्वरूप, नौकरशाही का भी विकास नहीं हो सका; तथापि राजा को प्रशासन में **पुरोहित, सेनानी** एवं **ग्रामणी** से सहायता मिलती थी। ये व्यक्ति राजा के नौकर नहीं होकर उसके सहयोगी के समान थे। इनका चुनाव भी संभवतः कबीलेवालों द्वारा ही होता था। न्यायिक व्यवस्था भी पूर्णतः विकसित नहीं थी; राजा ही न्याय भी करता था।

वैदिक काल में अनेक जनतांत्रिक संस्थाओं का भी विकास हुआ। ऐसी संस्थाओं में **सभा, समिति** और **विदथ** प्रमुख हैं। यद्यपि इन संस्थाओं के स्वरूप और कार्यों के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि समिति समस्त समुदाय की जनसभा थी और सभा का स्वरूप बहुत-कुछ होमरकालीन गुरुजन-सभा से मिलता-जुलता था। इसमें स्त्रियाँ भी भाग लिया करती थीं। सभा का मुख्य कार्य न्याय करना था। समिति का मुख्य कार्य राजा का निर्वाचन था। राजनीतिक महत्त्व के अतिरिक्त सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक प्रश्नों पर भी इन संस्थाओं में चर्चा होती थी। इनका प्रमुख काम राजा का निर्वाचन करना, उसपर अंकुश रखना एवं प्रशासन में उसकी सहायता करना था। विदथ मुख्यतः धार्मिक एवं सैनिक महत्त्व का कार्य करता था। इन संस्थाओं का संगठन और कार्य कबीलाई संगठन के ही अनुरूप था। राजा के लिए इन संस्थाओं से मधुर संबंध बनाए रखना आवश्यक था।

---

1. भारत में अपने निवास और प्रसार के दौरान आर्यों को जिन भारतीय मूल जाति के लोगों से संघर्ष करना पड़ा, उनमें द्रविड़ और मुण्डा प्रमुख थे। भाषाई और पुरातात्त्विक प्रमाणों से अंदाज मिलता है कि पंजाब में आर्यों को मुख्यतया द्रविड़ों से संघर्ष करना पड़ा। **ऋग्वेद** में द्रविड़ भाषा का प्रभाव देखने से ऐसा अंदाज लगाता है। पूर्वी भारत में उनका सामना मुख्यतः मुण्डों ने किया। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वी भारत में जिस समय आर्यों का प्रसार हुआ, उस समय तक उनकी सभ्यता विकसित हो चुकी थी, इसलिए मुण्डों की संस्कृति का उनपर कम प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि वैदिक संस्कृत में द्रविड़ की अपेक्षा मुण्डा-प्रभाव कम परिलक्षित होता है।

4.3(b). आर्यों की सामाजिक स्थिति *(Social Life of the Aryans)*

आर्यों का समाज पितृसत्तात्मक था। "जिस प्रकार निर्वाह-अर्थव्यवस्था ने काफी हद तक कबाइली सामंजस्य को बढ़ावा दिया, उसी प्रकार पशुचारण की प्रधानता ने पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना के निर्माण में सहायता दी।" समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार थी। **कुलपति** का परिवार के सदस्यों पर प्रभाव एवं नियंत्रण रहता था। परिवार ज्यादातर संयुक्त होते थे, एकात्मक परिवार का उल्लेख नहीं मिलता है। कई पीढ़ियों के लोग, बंधु-बांधव एक ही साथ रहते थे। इन्हें **नप्तृ** कहा गया है। **ऋग्वेद** के अनेक दृष्टांतों (शुनःशेप, ऋज्राश्व एवं दिवालिए जुआरी की कथा) से स्पष्ट हो जाता है कि परिवार में पितृसत्तात्मक तत्त्व ही प्रधान थे। अनेक मंत्रों में योग्य पुत्रों **(सौवीरों)** की कामना की गई है, परंतु पुत्रियों की कामना का उल्लेख नहीं मिलता **(प्रजा** की भी कामना की गई है, जिसमें पुत्र एवं पुत्रियाँ दोनों ही सम्मिलित थीं, परंतु अलग से पुत्रियों की कामना नहीं की गई है, जबकि पुत्रों की की गई है)। ऐसा आर्यों ने संभवतः इसलिए किया क्योंकि युद्ध में लड़ने के लिए उन्हें कुशल योद्धाओं की आवश्यकता थी। पितृसत्तात्मक तत्त्व की प्रधानता होते हुए भी परिवार में स्त्रियों को यथोचित आदर एवं सम्मान प्रदान किया जाता था। माता का गृहस्वामिनी के रूप में पर्याप्त आदर होता था। स्त्रियों को पर्याप्त स्वतंत्रता भी प्राप्त थी। यद्यपि विवाह में पिता की अनुमति या सहमति आवश्यक थी, तथापि अनेक स्त्रियों को विवाह-संबंधी स्वतंत्रता प्राप्त थी। उन्हें शिक्षा पाने और राजनीतिक संस्थाओं में हिस्सा लेने का भी अधिकार था। बहुत-सी स्त्रियाँ अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थीं और उन्होंने अनेक सूक्तों की रचनाएँ कीं। विश्वतारा, विश्पला एवं घोषा ऐसी ही विदुषी महिलाएँ थीं। स्त्रियाँ धार्मिक कृत्यों में भी अपने पतियों के साथ भाग लेती थीं; परंतु इनके साथ-साथ उनपर कुछ प्रतिबंध भी थे। उदाहरणस्वरूप उन्हें पुरुषों के संरक्षण में रहना पड़ता था। उन्हें संपत्ति में भी हिस्सा नहीं मिलता था, इसके बावजूद समाज में उनका सम्मानजनक स्थान था।

ऋग्वेद से अनेक सामाजिक नियमों एवं संस्थाओं की भी जानकारी मिलती है। विवाह का प्रचलन आरंभ हो चुका था, तथापि कुछ आदिम प्रथाओं के उदाहरण भी मिलते हैं (यम-यमी का विवाह)। विवाह अधिकतर एकात्मक होते थे, परंतु बहु-विवाह के भी प्रमाण यदा-कदा मिलते हैं। मरुतों और रोदसी की कथा तो बहुपतित्व की तरफ भी इशारा करती है। विवाह एक धार्मिक कृत्य समझा जाता था। बाल-विवाह का प्रचलन नहीं था, वयस्कता प्राप्त करने के पश्चात ही विवाह होते थे। सती-प्रथा का प्रचलन नहीं था, परंतु **नियोग** की व्यवस्था प्रचलित थी।

ऋग्वेदकालीन समाज समतावादी अथवा वर्णविहीन समाज नहीं था। आर्यों का प्रारंभिक सामाजिक वर्गीकरण वर्ण एवं कर्म के आधार पर हुआ था। आर्यों के तीन प्रमुख वर्ग थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। यह वर्गीकरण जातिगत या जन्मजात न होकर कर्म के आधार पर निश्चित किया गया था। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय को **राजन्य** कहा जाता था। वैश्य के अंतर्गत सामान्य **जन** आते थे। इस समय अनार्यों को भी वैदिक समाज में शामिल किया जा रहा था। इन अनार्यों को वैदिक समाज का अंग मानते हुए भी रक्त की शुद्धता के आधार पर नीचा दर्जा प्रदान किया गया। इस प्रकार समाज में चतुर्थ वर्ण का भी उदय हुआ। **ऋग्वेद** के दसवें मंडल (जो बाद में जोड़ा गया माना जाता है) में चार वर्णों की उपत्ति की कथा दी गई है। इसके अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और पैर से शूद्र का जन्म हुआ। शूद्र की श्रेणी में अनार्यों की रखा गया; परंतु यह व्यवस्था वैदिक काल के अंतिम चरण में महत्त्वपूर्ण बन सकी। वर्ग-विभाजन के बावजूद यह व्यवस्था कठोर नहीं थी। व्यवसाय, खान-पान एवं विवाह इस समय तक वर्ण-व्यवस्था की कठोरता से बचे हुए थे। **ऋग्वेद** के एक उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है, "....मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी माँ पत्थर की चक्की चलाती हैं। धन की कामना करनेवाले नाना कर्मोंवाले हम एक साथ रहते हैं....।" इसके बावजूद कबीलाई समाज में योद्धाओं एवं पुरोहितों को अधिक सुविधाएँ प्राप्त थीं। युद्ध के लूट का बड़ा भाग कबीले के मुखिया और उसके पुरोहित को ही मिलता था।

ऋग्वैदिक समाज में 'दास' अथवा दस्युओं का भी उल्लेख मिलता है। इन दासों की पहचान निश्चित नहीं है, यद्यपि आर्यों से इनके संघर्ष की चर्चा **ऋग्वेद** में हुई है। अनेक पाश्चात्य

इतिहासकारों की मान्यता है कि 'दास' अथवा 'दस्यु' (अनार्य) भारत के मूल निवासी थे, परंतु दास शब्द का व्यापक अर्थ लिया जाना चाहिए। आदिम जातियों के अतिरिक्त इस वर्ग में युद्धबंदी और निम्न आर्यों को भी सम्मिलित किया जा सकता है; जैसे—यदु, तुर्वसु इत्यादि आर्यों को भी दास कहा गया है। दासों की तुलना में दस्युओं को आर्यों का प्रबल शत्रु बताया गया है। उन्हें 'अमानुष' कहा गया है। पुरुष-दासों का दान कम होता था, जबकि स्त्री-दासों के दान का उल्लेख अधिक मिलता है। धनी वर्गों में संभवतः घरेलू दास रखने की प्रथा विद्यमान थी, परंतु आर्थिक उत्पादनों में दासों का उपयोग नहीं होता था।

आर्य अपने भोजन में अनाज, दूध एवं दूध से बनी वस्तुएँ और फल का उपयोग करते थे। आर्य मांसाहारी भी थे। वे सुरा और सोमरस से भी परिचित थे। स्त्री-पुरुष 'वास' (कमर के नीचे) और 'अधिवास' (कमर के ऊपर) वस्त्र पहनते थे। स्त्रियाँ 'नीवी' (कंचुकी) भी पहनती थीं। वस्त्र सूती एवं ऊनी दोनों होते थे। वस्त्रों को रँगने, उस पर कशीदाकारी करने की भी कला प्रचलित थी। बाल सँवारने के विभिन्न ढंग थे। आर्य आभूषणों के भी शौकीन थे। स्त्री-पुरुष दोनों आभूषण पहनते थे, जैसे कुण्डल, हार, नूपुर इत्यादि। उनके मनोरंजन के साधनों में नृत्य-गान, रथों की दौड़ द्यूत-क्रीड़ा प्रमुख हैं। उनके निवासस्थान फूस, बाँस और लकड़ी से बनाए जाते थे। ईंटों के व्यवहार का ज्ञान उन्हें नहीं था। स्वास्थ्य एवं नैतिक जीवन पर बल दिया जाता था। औषधि के रूप में विभिन्न जड़ी-बूटियों का व्यवहार किया जाता था। बीमारियों से छुटकारा पाने के लिए जादू-टोने का भी सहारा लिया जाता था। आर्य अतिथि-सत्कार, बड़ों का सम्मान और दान देने पर विशेष बल देते थे। शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था थी। पारिवारिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात विद्यार्थी गुरुकुल में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। शिक्षक का कार्य ब्राह्मण करते थे। मौखिक शिक्षा की व्यवस्था थी। आर्य अपने मृतकों का दाह-संस्कार किया करते थे।

4.3(c). आर्यों का आर्थिक जीवन *(Economic Life of the Aryans)*

आर्यों का भौतिक जीवन मुख्यतः पशुचारण, कृषि एवं कुटीर उद्योग-धंधों पर आश्रित था। व्यापार-वाणिज्य का विकास इस समय नहीं हो सका। फलतः, उनकी अर्थव्यवस्था ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी। ऐसी व्यवस्था में न तो नगरों का उदय हो सका और न ही व्यापार-वाणिज्य या सिक्कों का प्रचलन हो सका। इसका प्रमुख कारण था कि इस समय आर्यों का जीवन घुमंतू था। वे किसी निश्चित स्थान पर बहुत समय तक नहीं रहते थे। पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि **ऋग्वेद** की समकालीन मृद्भांड-संस्कृतियों के दौरान लोग स्थायी जीवन व्यतीत करने के आदी नहीं थे। (स्थायी जीवन के कुछ प्रमाण लाल किला, जिला बुलंदशहर एवं अतरंजीखेड़ा जिला एटा, उत्तर प्रदेश में मिले हैं।) ऐसी स्थिति में पशुपालन ही कबीलाई अर्थव्यवस्था का प्रधान तत्त्व था।

पशुपालन आर्यों का मुख्य व्यवसाय था। उनके लिए पशु ही सबसे महत्त्वपूर्ण संपत्ति थी। पशु-संपदा की वृद्धि की कामना **ऋग्वेद** के अनेक मंत्रों में की गई है। देवताओं से इनकी रक्षा करने का भी अनुरोध किया गया है। पूषन् देवता पशुओं की रक्षा करते थे। चूँकि पशु ही सबसे महत्त्वपूर्ण धन थे, इसलिए उनकी बराबर चोरी होती थी। इसके कारण कबीलाई युद्ध भी होते थे। पशुओं में गाय सबसे प्रमुख थी। इसी की चोरी सबसे अधिक होती थी। अतः, **गविष्टि** (गायों की खोज) ही युद्ध का पर्याय बन गया। गाय दान में भी दी जाती थी। गाय से दूध मिलने के अतिरिक्त हल और गाड़ी खींचने के लिए बैल भी मिलते थे। गाय का धार्मिक महत्त्व भी था। इसका कारण यह था कि **ऋग्वेद** में एक स्थान पर देवताओं को भी गायों से ही उत्पन्न माना गया है।[1] इसी कारण गाय पूजनीया भी थी। गाय का उपयोग विनिमय के साधन के रूप में भी होता था। यह जमीन से भी ज्यादा मूल्यवान थी। गाय के अतिरिक्त आर्य भेड़ें बकरियाँ, कुत्ते और घोड़े भी पालते थे। इनका आर्थिक जीवन में बहुत महत्त्व था।

1. गाय के महत्त्व के ही कारण उसे **अघन्य** (जो हत्या के योग्य नहीं हो) माना गया है। प्रो० डी० एन० झा के अनुसार ऐसा संभवतः गाय के आर्थिक महत्त्व के कारण ही किया गया था; क्योंकि गोमांस-भक्षण के जो प्रमाण **ऋग्वेद** में मिलते हैं, वे उसकी (गाय की) धार्मिक महत्ता स्थापित नहीं करते।

इन पालतू पशुओं के अतिरिक्त आर्य ऊँट, हाथी, बाघ, सिंह इत्यादि जानवरों से भी परिचित थे। ग्रामों में पशुओं के लिए चरागाह की सुविधा रहती थी। इसकी देखभाल **वज्रपति** करता था। गड़ेरिया या चरवाहा **(गोपाल)** पशुओं की निगरानी करता था। उसका व्यवसाय बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। व्यक्तिगत स्वामित्व को प्रमाणित करने के लिए पशुओं को चिह्नित भी किया जाता था।

आर्य कृषि **(कृष)** से भी परिचित थे, यद्यपि कृषि-कर्म की चर्चा **ऋग्वेद** में बहुत कम ही पाई जाती है (कुल 10,462 मंत्रों में से सिर्फ 24 मंत्रों में ही इसका जिक्र किया गया है)। पशुचारण की तुलना में कृषि का कम महत्त्व था। इसकी पुष्टि ऋग्वैदिक देवकुल में देवियों की नगण्य स्थिति से होती है। **ऋग्वेद** में हल का भी उल्लेख मिलता है। काठ के बने हल और बैल से खेती होती थी। आर्य बीज बोना, फसल काटना एवं डंठलों से अनाज अलग करना भी जानते थे। सिंचाई का भी उल्लेख मिलता है; परंतु संभवतः मूल संहिता में इन विवरणों को बाद में, क्षेपक के रूप में जोड़ा गया। फसलों में सिर्फ **यव** (जौ या अन्य प्रकार के समस्त अनाज) का ही उल्लेख मिलता है; परंतु संभवतः **धान्य** या धान भी उपजाया जाता था। जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व अब भी कायम नहीं हुआ था। ऋग्वेद में मवेशी, दास, रथ, घोड़े आदि के दान का उल्लेख मिलता है, परंतु भूमि का नहीं। इसी प्रकार राजा को भूमि का संरक्षक नहीं बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि भूमि पर अभी कबीले का ही नियंत्रण था।

कृषि के साथ-साथ अन्य व्यवसायों से भी आर्य परिचित थे। पशु-पक्षियों का आखेट जीविकोपार्जन का एक साधन था। बढ़ई रथ, गाड़ियाँ एवं मकान (लकड़ी, फूस एवं बाँस के) बनाते थे। जुलाहे वस्त्र बुनते थे। सूत कातने का काम स्त्रियाँ करती थीं। चर्मकार चमड़े से विभिन्न उपयोगी वस्तुएँ बनाते थे। **ऋग्वेद** में **अयस्** शब्द का प्रयोग ताँबा या काँसा धातु के लिए किया गया है। **कर्मकार** इन धातुओं से हथियार और घरेलू उपकरण बनाते थे। **हिरण्यकार** सोने के आभूषण बनाते थे। वैद्यों **(भिषक्)** का व्यवसाय भी महत्त्वपूर्ण था। वे व्याधियों की रोकथाम के उपाय करते थे। अश्विन् को देवताओं का वैद्य बताया गया है।

यद्यपि **ऋग्वेद** में **समुद्र** का उल्लेख मिलता है, तथापि इससे विदेशी व्यापार की पुष्टि नहीं होती। समुद्र शब्द का व्यवहार संभवतः बड़ी नदियों या संचित जल के लिए किया गया है। इसी प्रकार **वणिक्** या **निष्क** व्यापार या सिक्के के प्रचलन की पुष्टि नहीं करते। इस समय की निर्वाह-अर्थव्यवस्था (subsistence economy) में बड़े पैमाने पर व्यापार का प्रसार संभव ही नहीं था। अधिक-से-अधिक **वणिक्** (बनिया) सीमित क्षेत्र में विनिमय के आधार पर वस्तुएँ बेचा करते थे। व्यापार-वाणिज्य की कमी के चलते नगरों का भी इस समय उदय नहीं हो सका। यद्यपि कुछ विद्वानों की धारणा है कि वैदिक काल में भी भारत में नगर थे, तथापि इनका स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। **ऋग्वेद** से ही स्पष्ट होता है कि पूर्व-वैदिक आर्य नगरों के संहारक थे, उनके निर्माता नहीं। आर्यों ने ही संभवतः सिंधु-सभ्यता के नगरों को नष्ट किया। इंद्र को ऋग्वेद में 'पुरंदर' या किला तोड़नेवाला कहा गया है। पुरातात्त्विक प्रमाण भी इस समय नगरों के अस्तित्व का परिचय नहीं देते।[1] आवागमन के साधन के रूप में बैलगाड़ी एवं घोड़ों द्वारा खींचे जानेवाले रथ का व्यवहार होता था।

---

1. भगवानपुरा (हरियाणा) की खुदाई से जो मिट्टी अथवा पक्की ईंटों का बना हुआ तेरह कक्षोंवाला भवन प्रकाश में आया है और जिसकी तिथि 1600-1000 ई० पू० मानी जाती है, को आधार मानकर कुछ विद्वान इस काल में नगरों के अस्तित्व की बात स्वीकारते हैं; परंतु इस संदर्भ में निश्चित और स्पष्ट प्रमाण अभी उपलब्ध नहीं हैं। अधिक-से-अधिक इससे इस स्थान पर बड़े परिवार के रहने का प्रमाण मिलता है। वस्तुतः **ऋग्वेद** में उल्लिखित पुरों (नगरों) का अर्थ बड़ी ग्रामीण बस्तियों से लिया जाना चाहिए। इन बस्तियों में मिट्टी और लकड़ी के बने मकान होते थे। यदा-कदा पत्थर के मकान भी बनते थे। इन बस्तियों की घेराबंदी (fortification) मिट्टी की चहारदीवारी से की जाती थी। इन्हीं पुरों के तोड़ने का उल्लेख संभवतः **ऋग्वेद** में किया गया है।

4.3(d). धार्मिक प्रथाएँ एवं देवी-देवता *(Religious Rites and Deities of the Aryans)*

ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन तथा मान्यताएँ भौतिक जीवन से प्रभावित थीं। अतः, इस क्षेत्र में भी कबिलाई प्रभाव दिखाई देते हैं। ऋग्वेद में **ऋत** की अवधारणा देखी जाती है। इस शब्द की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने भिन्न प्रकार से की है। इसे 'सृष्टि की नियमितता', 'भौतिक एवं नैतिक व्यवस्था', 'अंतरिक्षीय एवं नैतिक व्यवस्था' के रूप में माना गया है। ऋत को नैतिक व्यवस्था, देवताओं का नियामक माना गया है। विष्णु, मरुत उषा यहाँ तक कि संपूर्ण विश्व को ऋत पर आधारित माना गया है। इसी के द्वारा लोगों को भौतिक समृद्धि एवं जीवनयापन के अन्य साधन प्राप्त होते थे। वरुण को **ऋतस्य गोपा** कहा गया है। उसके आदेश के उल्लंघन पर आक्रोश दिखलाया गया है। ऋत की रक्षा और स्थापना पासा खेल कर होती थी। इससे अंदाज लगता है कि ऋग्वेद में यह अवधारणा प्रचलित थी कि संपत्ति की सामूहिकता द्वारा न्याय एवं ऋत की स्थापना होती है। वस्तुतः, "ऋग्वेद में ऋत की अवधारणा तत्कालीन प्राक्-वर्गीय समाज और कबायली जीवन के अनुरूप थी और जब कालांतर में समाज वर्णों एवं वर्गों में विभाजित हो गया और लोगों में लालच, ईर्ष्या, स्वार्थ या लूट की भावना ने घर कर लिया तो ऋत का ह्रास हो गया—तभी वरुण की महत्ता का भी पतन हुआ।"[1]

ऋग्वैदिक आर्य प्रकृति-पूजक एवं बहुदेववादी थे। प्रकृति की जिन शक्तियों से आर्य प्रभावित या भयभीत थे, उनकी पूजा वे करते थे। ऐसे 33 देवताओं का उल्लेख मिलता है। इनको तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—**पृथ्वी के प्रतीक देवता** (पृथ्वी, अग्नि, सोम, बृहस्पति इत्यादि), **वायुमंडल के प्रतीक या अंतरिक्षवासी देवता** (इंद्र, वरुण, वायु, मरुत, रुद्र इत्यादि) और **आकाशीय देवता** या **स्वर्गस्थ**—वरुण, मित्र, सूर्य, उषा, सविता, अश्विन् इत्यादि)। इन देवताओं में सर्वोच्च स्थान युद्ध के देवता इंद्र को दिया गया है। इसकी स्तुति के लिए लगभग 250 मंत्रों की रचना की गई। इंद्र को वर्षा एवं प्रकाश का भी देवता माना जाता था। वरुण शक्ति, नैतिकता एवं न्याय का देवता था। मित्र वरुण का सहयोगी था। अग्नि भी एक प्रमुख देवता था, जिसके सम्मान में 200 मंत्रों या ऋचाओं की रचना हुई। वह देवताओं और मानवों के बीच संपर्क का काम करता था। उसी के द्वारा देवता अपना आहार प्राप्त करते थे। सोम वनस्पति का देवता था और सूर्य प्रकाश का। मरुत तूफान का देवता था और पूषन् पशुओं का। देवियों में प्रमुख अदिति एवं उषा थीं; परंतु देवताओं की अपेक्षा देवियों की संख्या और उनका महत्त्व कम था। समाज में पितृसत्तात्मक तत्त्वों के प्रधान होने की वजह से ही देवियों को अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। देवताओं के अतिरिक्त प्रकृति की विभिन्न शक्तियों एवं लोकों का प्रतिनिधित्व करनेवाले, जैसे भूत-प्रेत, राक्षस, अप्सरा, पिशाच आदि का भी उल्लेख मिलता है। "अज, शिग्रू, काश्यप, गौतम, मत्स्य" आदि जाति एवं व्यक्तियों के नामों से गणचिह्नात्मक (टोटम-संबंधी) आस्थाओं के प्रचलन का आभास मिलता है। ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन की एक विशेषता यह भी है कि बहुदेववाद के बावजूद ऋग्वेद के उत्तरार्द्ध में एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है। विभिन्न देवताओं को समय-समय पर सर्वोच्च प्रमाणित करने की कोशिश की जा रही थी। इसी का परिणाम था कि इंद्र-मित्र, वरुण-अग्नि जैसे युगल देवता बने। एकेश्वरवाद की इस अवधारणा के पीछे संभवतः कबायली व्यवस्था में आया दरार एवं तनाव उत्तरदायी था।

देवताओं और पारलौकिक शक्तियों को प्रसन्न कर उनसे अनुग्रह प्राप्त करने एवं उनके प्रकोप से बचने के लिए आर्य विभिन्न उपाय करते थे। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मंत्रों का उच्चारण कर उनकी स्तुति की जाती थी तथा यज्ञाहुति दी जाती थी। समवेत स्वरों में या अकेले स्तुति-गान होता था। देवताओं से मोक्ष की नहीं, बल्कि 'शतवर्षीय आयु, पुत्र, धन-धान्य और विजय' की कामना की जाती थी। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ भी किए जाते थे। यज्ञ भी व्यक्तिगत और सामूहिक तौर पर होते थे। इन यज्ञों में घी, दूध, धान्य, मांस आदि की आहुति दी जाती थी। यज्ञ पुरोहितों की सहायता से होते थे, जिनके बदले उन्हें

दान-दक्षिणा मिलती थी। दक्षिणा में गाय एवं सोना के साथ दास-दासी भी दिए जाते थे। इस समय के प्रमुख यज्ञों में ब्राह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ तथा अनेक प्रकार के नमित्तिक यज्ञ (निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, जैसे पुत्रकामेष्टि यज्ञ, आयुष्कामेष्टि यज्ञ, लोकेष्टि यज्ञ इत्यादि) प्रमुख हैं। **ऋग्वेद** में नरबलि के एक उदाहरण (शुनःशेप का) के अतिरिक्त इसका अन्य उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन यज्ञों में पशुओं की बलि अवश्य दी जाती थी। यज्ञों के साथ पारलौकिक शक्तियों के प्रकोप से बचने के लिए जादू-मंतर, टोने-टोटके आदि का भी प्रयोग आर्य करते थे। आर्यों के देवता मानवोचित गुणों से संपन्न थे। उन्हें दयावान और मानवजाति का शुभेच्छु माना जाता था। आर्य जीवन के अमरत्व में विश्वास करते थे, परंतु उन्होंने मोक्ष की प्राप्ति का कोई प्रयास नहीं किया। मंदिरों या मूर्तिपूजा का प्रमाण नहीं मिलता।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि ऋग्वैदिक युग में आर्यों की सभ्यता कबीलाई स्वरूप की थी। चाहे राजनीतिक व्यवस्था हो, चाहे सामाजिक, आर्थिक या धार्मिक जीवन हो, सर्वत्र कबीलाई तत्त्व प्रमुख रूप से पाए जाते हैं। वस्तुतः, यह आर्य-सभ्यता का रचनात्मक काल (formative age) था। इसी काल में सभ्यता के उन मूल तत्त्वों की स्थापना हुई, जिनका विकास हम उत्तर-वैदिक काल में देखते हैं।

4.4. उत्तर-वैदिक युग *(The Later Vedic Civilization)*

ऋग्वैदिक काल आर्यों की सभ्यता का रचनात्मक काल था; परंतु उत्तरवैदिक युग परिवर्तनशील काल (transitional phase) था। इस युग के अंतर्गत (1000-600 ई० पू०) आर्यों की मूल सभ्यता के स्वरूप में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए। इस काल की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमारे पास अधिक स्रोत हैं। **वैदिक संहिताएँ (साम, यर्जु और अथर्व) ब्राह्मणग्रंथ** एवं **उपनिषद्** इस युग की सभ्यता पर प्रकाश डालते हैं। पुरातात्त्विक स्रोत (चित्रित धूसर मृद्भांड और लोहे के प्रयोग) भी इस समय से मिलने लगते हैं। इन प्रमाणों से एक स्थायी ग्रामीण जीवन की झलक मिलती है। इस काल की मुख्य विशेषता थी क्षेत्रीय राज्यों के उदय की प्रवृत्ति, कबाइली तत्त्वों का कमजोर पड़ना, वर्ण-व्यवस्था की जटिलता बढ़ना, कृषिप्रधान अर्थव्यवस्था का उदय और धार्मिक कर्मकाण्डों की प्रधानता। तकनीकी विकास के दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था लोहे का उपयोग। आरंभ में इसका उपयोग अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में हुआ, परंतु धीरे-धीरे इसका व्यवहार कृषि एवं अन्य आर्थिक गतिविधियों में भी होने लगा। इन परिवर्तनों का प्रभाव परवर्ती सभ्यता एवं संस्कृति पर व्यापक रूप से पड़ा।

4.4(a). राजनीतिक एवं प्रशासनिक परिवर्तन *(Political and Administrative Changes)*

तत्कालीन स्रोत यह इंगित करते हैं कि उत्तर-वैदिक काल में आर्य पंजाब से निकलकर गंगा-यमुना के दोआब-क्षेत्र में फैल रहे थे। इस क्षेत्र में इसी काल में अनेक नए स्थलों पर नवीन बस्तियों का उदय हुआ। इन बस्तियों के निवासी चित्रित धूसर मृद्भांड (Painted Grey Ware, PGW) का व्यवहार करते थे और लोहे के प्रयोग से परिचित थे। साहित्यिक ग्रंथों से भी आर्यों के कुरुक्षेत्र और मध्यदेश तक के प्रसार की पुष्टि होती है। **शतपथब्राह्मण** में उल्लिखित विदेघमाथव की कहानी से पता चलता है कि आर्यों का सदानीरा या गण्डक नदी तक प्रसार हो चुका था। दक्षिण में आर्य विदर्भ तक बढ़ चले थे। गंगाघाटी में अपने प्रसार के दौरान आर्यों को संघर्ष भी करना पड़ा (पहले के निवासियों से, जो विभिन्न रंगों के मिट्टी के बरतन एवं ताँबे का व्यवहार करते थे)। इस संघर्ष में आर्यों को लोहे के ज्ञान से बहुत अधिक लाभ हुआ। संभवतः आर्यों के प्रसार में भी लोहे के ज्ञान ने मदद पहुँचाई। दोआब के अनेक स्थलों (हस्तिनापुर, आलमगीरपुर, नोह, अतरंजीखेड़ा, बटेसर) से लोहे के हथियार (बरछी-शीर्ष एवं बाणाग्र) प्राप्त हुए हैं। ये सारे हथियार उत्तर-वैदिक काल के हैं। लोहे के हथियारों के ज्ञान से आर्य ताँबे का व्यवहार करनेवालों पर आसानी से विजय प्राप्त कर सके।

इस समय की दूसरी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना थी छोटे-छोटे कबीलाई राज्यों के स्थान पर क्षेत्रीय राज्यों का उदय। कबीलाई तत्त्व का स्थान अब क्षेत्रीयता (territorialism) ले रही

थी। इस समय तक भरत और पुरु कबीलों को मिलाकर कुरु-कबीला बना। इनका प्रभुत्व कुरुक्षेत्र में स्थापित हुआ। इसी क्षेत्र से इस काल के लोहे के वाणाग्र, बरछी-शीर्ष इत्यादि प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार तुर्वश एवं क्रिवी मिलकर पांचाल कबीला बना। बाद में कुरु पांचालों से मिल गए और अपनी राजधानी हस्तिनापुर में स्थापित की। कुरु-कबीले के दो गुटों—कौरवों एवं पांडवों—में 950 ई॰पू॰ में भरत-युद्ध हुआ, जिसमें संपूर्ण कुरु-कबीला नष्ट हो गया। इसी भरत-युद्ध की विस्तृत कथा **महाभारत** में दी गई है। बाढ़ में हस्तिनापुर के नष्ट हो जाने के पश्चात बचे-खुचे कुरु कौशांबी जाकर बस गए। पांचालों की राजधानी कांपिल्य थी। यह राज्य दार्शनिकों एवं विद्वानों के कारण विख्यात हुआ। पांचालों का ही प्रसिद्ध दार्शनिक राजा प्रवाहन जैवालि था। उत्तर-वैदिक काल में कुरु-पांचाल-राज्य ही सबसे महत्त्वपूर्ण थे। गंगा-यमुनाघाटी के अन्य प्रमुख राज्य काशी-कोशल और विदेह थे। विदेह की राजधानी मिथिला थी। यहाँ के विख्यात राजा जनक थे। अंग और मगध तक आर्य नहीं पहुँच सके थे। इनका आर्यीकरण बाद में हुआ। वैदिक साहित्य में उत्तर-पश्चिम के राज्यों; यथा—गांधार, कैकेय, मद्र एवं मत्स्य का भी उल्लेख मिलता है। इन विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि आर्य अब कबीलाई संघर्षों से ऊपर उठकर क्षेत्रीय राज्य स्थापित करने की दिशा में प्रयत्नशील थे। ऐसे राज्यों का उदय सैन्य शक्ति के आधार पर हुआ। इस युग में राष्ट्र और पैतृक राजतंत्र की अवधारणा बढ़ रही थी जिसने क्षेत्रीयता की भावना को और अधिक मजबूत किया।

राजनीतिक परिवर्तनों ने प्रशासनिक व्यवस्था में भी महत्त्वपूर्ण अंतर ला दिया। राजा की स्थिति, उसकी शक्ति और अधिकारों में वृद्धि हुई। इसका एक कारण यह था कि राजा का पद अब वंशानुगत हो गया। राजा के पद के महत्त्व में वृद्धि का अंदाज उत्तरवैदिक साहित्य से मिलता है। उदाहरण के लिए **अथर्ववेद** में कहा गया है कि राष्ट्र राजा के हाथों में हो तथा वह और देवता इसे सुदृढ़ बनाएँ। राजत्व के दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत का उल्लेख भी साहित्य में मिलता है। राजतंत्र का स्वरूप भी कबीलाई से बदलकर क्षेत्रीय हो गया। उत्तर-वैदिक साहित्य में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। प्राची में **सम्राद्**, दक्षिण में **भौज्य**, प्रतीची में **स्वराज्य**, उदीची में **वैराज्य** प्रकार का राजतंत्र था। राजा अब **अधिराज, राजाधिराज, सम्राद्, विराद्, एकराद् सार्वभौम** जैसी उपाधियाँ धारण करने लगे, जो साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का आभास देता है। विभिन्न प्रकार के राजत्व की प्राप्ति के लिए **वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, इंद्रमहाभिषेक** इत्यादि यज्ञों का अनुष्ठान आवश्यक हो गया। **गोपथ ब्राह्मण** के अनुसार राजा को **राजसूय**, सम्राट को **वाजपेय**, स्वराट को **अश्वमेध**, विराट को **पुरुषमेध** और सर्वराट को **सर्वमेध** यज्ञ करना चाहिए। **आपस्तम्ब श्रौतसूत्र** के अनुसार अश्वमेध यज्ञ केवल सार्वभौम राजा ही कर सकता है। इनके कारण राजा में देवत्व का अंश भी आने लगा और उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई।

क्षेत्रीय तत्त्वों के बढ़ते प्रभाव ने प्रशासन के कबीलाई तत्त्वों को महत्त्वहीन बना दिया। पहले जो कबीलाई संस्थाएँ (सभा, समिति, विदथ आदि) प्रशासन का मुख्य अंग थीं, उनका महत्त्व गौण हो गया। इसका मुख्य कारण था क्षेत्रीय राज्यों का उदय और राजपद का वंशानुगत होना। राजा को गद्दी पर बैठने के समय राजसूय (अभिषेक) यज्ञ करना आवश्यक हो गया। अभिषेक दो प्रकार के होते थे—**पुनर्भिषेक** और **ऐंद्रमहाभिषेक**। अतः वैदिक कबीलाई संस्थाओं का स्थान धीरे-धीरे **रत्निनों** या **राजकृतियों** (सेनानी, पुरोहित, ग्रामणी, राजन्य इत्यादि) ने ले लिया। अब राजा इन्हीं की मदद से प्रशासन चलाने लगा। सभा-समिति का स्वरूप परिवर्तित हो गया। सभा राज संस्था जैसी बन गई तथा समिति में दार्शनिक और धार्मिक वाद-विवाद अधिक होने लगे। यद्यपि अब भी राज्य की आमदनी का कोई निश्चित जरिया नहीं था, तथापि **बलि, शुल्क** और **भाग** के रूप में राजा को आमदनी होती थी। **संग्रहीता** इन्हें कर के रूप में वसूलता था, परंतु यह कर उतना अधिक नहीं था, जिसके आधार पर राजा स्थायी सेना या राज्य के प्रशासनिक अधिकारियों की बहाली कर सके। न्याय-व्यवस्था एवं ग्राम्य-व्यवस्था में अब भी स्थानीय तत्त्व ही प्रधान थे, यद्यपि सिद्धांततः राजा समग्र प्रशासन का प्रधान था। इन महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक परिवर्तनों के बावजूद अभी तक प्रशासनिक व्यवस्था सुदृढ़ नहीं हो सकी थी, यद्यपि इसमें विकास के तत्त्व मौजूद थे।

4.4(b). सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन *(Social Changes)*

सामाजिक जीवन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था—वर्णव्यवस्था का जटिल होना। अब कर्म के स्थान पर वर्ण ही महत्त्वपूर्ण बन गया। यह विभाजन ऐसा था, जिसमें उत्पादन से संबंध नहीं रखने के बावजूद ब्राह्मण और क्षत्रिय समाज के सर्वश्रेष्ठ, सुविधा एवं विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग बन गए। ये सिर्फ उत्पादन के नियंत्रक थे। इसके विपरीत उत्पादक—वैश्य और शूद्र—सुविधाविहीन वर्ग थे। इन चारों वर्णों में सबसे बुरी अवस्था शूद्रों की ही थी। चारों ही वर्णों के आचार-विचार, खान-पान और विवाह-संबंधी नियम अलग-अलग थे। शूद्रों और अन्य वर्गों में एक स्पष्ट विभेद यह था कि शूद्रों को उपनयन-संस्कार का अधिकार प्राप्त नहीं था, जबकि प्रथम तीन वर्ण यह संस्कार कर सकते थे। शूद्रों पर अनेक प्रतिबंध लगाए गए। उनका स्पर्श एवं संसर्ग निंदनीय और अवांछनीय माना गया। समाज के अनेक निम्न श्रेणी के व्यक्तियों (पुलिंद, आंध्र, पुंड्र, शबर, व्रात्य, निषाद आदि) को वर्णव्यवस्था के बाहर रखा गया। उत्तर-वैदिक सामाजिक अवस्था का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि आपसी विभेद के बावजूद सुविधाभोगी वर्ग सुविधाविहिन वर्गों के विपरीत संगठित था। ब्राह्मण और क्षत्रियों में सर्व-श्रेष्ठता और अधिक धन प्राप्त करने के लिए संघर्ष होते थे। उत्तरवैदिक साहित्य में ब्रह्म (ब्राह्मण) और क्षत्र (क्षत्रिय) के संघर्ष का उल्लेख मिलता है। यह संघर्ष सिर्फ सामाजिक श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए ही नहीं बल्कि अतिरिक्त उत्पादन पर अधिकार करने के लिए भी हुआ, परंतु अंततः ब्राह्मणों ने अपने लिए गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर संतोष कर लिया। वैश्यों को समाज में तीसरा स्थान प्रदान किया गया। यह वर्ग उत्पादन से संबद्ध था। इस वर्ग को सैनिक सेवाएँ भी देनी पड़ती थीं। सबसे नीचे शूद्रों को रखा गया। उनकी अवस्था दयनीय थी। उच्च वर्णों की सेवा करना ही उनका कर्तव्य था। उनपर अनेक प्रतिबंध लाद दिए गए। राजा अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें आतंकित या दंडित भी कर सकता था। शूद्र धार्मिक कर्मकाण्डों में भाग नहीं ले सकते थे। उच्च वर्णवाले **(द्विज)** अनेक सामाजिक विशेषाधिकारों से संपन्न थे। उदाहरणस्वरूप, उच्च वर्ग के पुरुष निम्न श्रेणी की स्त्रियों से वैवाहिक संबंध स्थापित कर सकते थे, परंतु निम्न श्रेणी के पुरुष उच्च श्रेणी की स्त्रियों से विवाह नहीं कर सकते थे। जातिव्यवस्था (वर्णव्यवस्था) की जटिलता ने सगोत्र विवाहों (विशेषकर ब्राह्मणों के बीच) पर प्रतिबंध लगा दिया। अंतरजातीय विवाह संभव थे, परंतु शूद्रों से वैवाहिक संबंध कायम करना धर्मविरोधी और निंदनीय माना गया। इन सबके बावजूद उच्च वर्णों एवं निम्न वर्ण के बीच खान-पान-संबंधी नियम तबतक उतने कठोर नहीं बने थे जितने बाद में हो गए। वर्णव्यवस्था की जटिलता ने कालांतर में जातिव्यवस्था को जन्म दिया। चाण्डालों, दासों इत्यादि को वर्णव्यवस्था के बाहर रखा गया।

उत्तर-वैदिक युग में व्यक्तिगत संपत्ति के उदय ने सामाजिक असमानता भी उपस्थित कर दी। यद्यपि इस समय भी भूमि पर सामूहिक स्वामित्व ही माना जाता था, तथापि उत्तर-वैदिक साहित्य में भूमि के दान एवं खरीद का भी उल्लेख मिलता है। इस व्यवस्था ने व्यक्तिगत स्वामित्व, संपत्ति एवं सामाजिक असमानता की भावना उत्पन्न कर दी। जिनके पास अधिक जमीन थी (क्षत्रिय एवं ब्राह्मणों के पास), उनकी समाज में विशिष्ट स्थिति बन गई। ऐसे व्यक्ति दास भी रखते थे। **अथर्ववेद** से पता लगता है कि स्त्री-दासियों द्वारा अनाज की पिसाई करवाई जाती थी। ऐसी व्यवस्था में आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति भी दयनीय हो गई, उनकी स्वतंत्रता समाप्त हो गई, वे दूसरों पर आश्रित बन बैठे। फलस्वरूप, पूर्व-वैदिक काल की सामाजिक समानता समाप्त हो गई और सामाजिक असमानता फैल गई।

आर्यों के कौटुंबिक जीवन में कोई विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। परिवार का मुखिया अब भी सम्माननीय व्यक्ति था। खान-पान, वस्त्र-आभूषण तथा आमोद-प्रमोद के साधन भी पूर्ववत ही बने रहे; परंतु इस काल में पितृसत्तात्मक तत्त्व ज्यादा प्रबल होते चले गए। इसका सीधा परिणाम स्त्रियों की अवस्था पर पड़ा। उनकी स्थिति में गिरावट स्पष्ट तौर पर दृष्टिगोचर होती है। पुत्र की कामना पूर्ववत की जाती रही; परंतु अब पुत्रियों का जन्म अभिशाप माना जाने लगा। **ऐतरेयब्राह्मण** में पुत्र को परिवार का रक्षक एवं पुत्रियों को दुःख का कारण बताया गया है। इतना ही नहीं, **मैत्रायणीसंहिता** में जुआ (पासा) और सुरा (शराब) के साथ-साथ स्त्रियों को भी पुरुष का दुर्गण बताया गया है। यद्यपि साधारणतया अब भी विवाह एकात्मक

ही होते थे, तथापि उच्च वर्णों में बहुविवाह (बहुपत्नीत्व) की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। पहली पत्नी को मुख्य पत्नी माना जाता था और उसे कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त थे। कन्याओं को बेचने एवं दहेज लेने के भी उदाहरण मिलते हैं। नियोग और विधवा-विवाह की प्रथा भी चलती रही। सती-प्रथा का उदय अभी तक नहीं हो सका था यद्यपि इस प्रथा के प्रचलन के भी कुछ उदाहरण उत्तर-वैदिक साहित्य में मिलते हैं। अल्पायु में ही लड़कियों के विवाह करने पर बल दिया जाने लगा। स्त्रियों को पूर्णतः पुरुषों के अधीन कर दिया गया। उनके राजनीतिक और धार्मिक अधिकारों पर भी प्रतिबंध लग गए। कुछ स्त्रियाँ अब भी विद्या, नृत्य और संगीत में पारंगत होती थी। **बृहदारण्यकोपनिषद** में दी गई गार्गी की कथा इस बात को प्रमाणित करती है, लेकिन इसी ग्रंथ से यह अंदाज भी लगता है कि स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा नियंत्रित थी। उदाहरणस्वरूप, एक वाद-विवाद के दौरान याज्ञवल्क्य गार्गी को धमकाते हुए कहते हैं कि अधिक बहस नहीं करो, वरना तुम्हारा सिर तोड़ दिया जाएगा।

उत्तर-वैदिककालीन सामाजिक जीवन में **आश्रम-व्यवस्था** का भी उदय हुआ। सामान्यतः एक आर्य की आयु 100 वर्षों की मानी गई। इसे चार बराबर भागों में विभक्त कर निश्चित कार्य करने को कहा गया। जीवन का पहला काल **ब्रह्मचर्य** था। इस अवधि के दौरान यह अपेक्षित था कि व्यक्ति गुरुकुल में रहकर, कठोर नियम और अनुशासन का पालन करते हुए विद्यार्जन करे। शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात मनुष्य को जीवन के दूसरे चरण **गार्हस्थ्य** में प्रवेश करना पड़ता था। इस चरण में उसका प्रमुख कर्तव्य विवाह कर पुत्र पैदा करना, धन कमाना एवं अतिथि-सत्कार करना था। **अथर्ववेद** में कहा गया है, "अपने माता-पिता (पितर) के प्रति मनुष्य का जो ऋण है, उसे गृहस्थाश्रम में ही प्रवेश करके वह कुछ पूरा कर सकता है।" गृहस्थाश्रम को बहुत ही आदर से देखा जाता था क्योंकि इसी चरण में मनुष्य सांसारिक सुखों का उपभोग करता था, अनेक व्यक्तियों का पालन-पोषण करता था तथा अपने परिवार एवं समाज के प्रति विभिन्न उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता था। गृहस्थाश्रम की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार सभी बड़ी और छोटी नदियाँ समुद्र में जाकर विश्राम पाती हैं, उसी प्रकार सभी आश्रमों के व्यक्ति गृहस्थ पर निर्भर रहते हैं। गृहस्थाश्रम के पश्चात **वानप्रस्थ** की अवस्था थी। जीवन के इस चरण में मनुष्य से यह अपेक्षित था कि वह गृहस्थ-जीवन का भार अपने पुत्रों को सौंपकर, सांसारिक जीवन से विरक्त होकर त्याग एवं तपस्या का जीवन व्यतीत करे। ऐसे व्यक्ति ग्रामों से बाहर वन में कुटी बनाकर रहते थे तथा ब्रह्मचारियों को शिक्षा देते थे। जीवन का अंतिम चरण **संन्यास** का था। इस अवधि में मनुष्य संन्यासी का जीवन व्यतीत करते हुए मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न करता था। संन्यासी जंगलों में निवास करते थे। वे घूम-घूमकर उपदेश भी देते थे, इसीलिए इन्हें **परिव्राजक** भी कहा जाता था। आश्रम-व्यवस्था की स्थापना के पीछे दो मूल उद्देश्य थे—प्रथमतः, मनुष्य इस व्यवस्था द्वारा चार प्रकार के ऋणों (देवताओं, ऋषियों, पितरों एवं मानव-जाति के प्रति) से उऋण हो सके। द्वितीय, इस व्यवस्था द्वारा मनुष्य मानव-जीवन के चार महान पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की प्राप्ति कर सके। यह व्यवस्था भी उच्चवर्णों के लिए ही सुरक्षित रखी गई।

इस युग में शिक्षा की प्रगति भी हुई। विद्यार्थियों के लिए **उपनयन-संस्कार** आवश्यक बना दिए गए, परंतु शूद्र और स्त्री यह संस्कार नहीं कर सकते थे। विद्यार्थी को गुरुकुल में रहते हुए गुरु की सेवा कर शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। राज्य अब भी शिक्षा की व्यवस्था नहीं करता था। शिक्षण-संस्थाएँ अनुदान से चलती थीं। शैक्षणिक विषयों में देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, तर्कशास्त्र, इतिहास, उपनिषद आदि प्रमुख थे। इनके साथ-साथ स्वाध्याय, प्राणायाम तथा शारीरिक एवं चारित्रिक बल पर भी ध्यान दिया जाता था। शिक्षा की मौखिक व्यवस्था थी। लगभग 12 वर्षों तक विद्यार्थियों को गुरुकुल में रहकर शिक्षा पूरी करनी पड़ती थी। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि उत्तर-वैदिककाल में सामाजिक ढाँचे में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

4.4(c). आर्थिक क्रांति का युग *(An Age of Economic Revolution)*

उत्तर-वैदिक युग आर्थिक क्रांति का भी युग था। इस युग में आर्यों के आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए। आर्य अब पहले का घुमंतू जीवन त्याग कर स्थायी रूप से ग्रामीण

बस्तियों में निवास करने लगे। इससे उनके जीवन में स्थायित्व आया। फलतः, पशुचारण की अपेक्षा अब आर्य कृषि पर अधिक ध्यान देने लगे। वस्तुतः, कृषि ही उनके आर्थिक जीवन का मुख्य आधार बना। संभवतः लौह-तकनीक के ज्ञान ने कृषि के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस काल के साहित्य में 'धातु की चोंचवाले फाल' का उल्लेख मिलता है जो संभवतः लोहे का बना होता था। लगभग 900 ई० पू० के आसपास से पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तरप्रदेश, राजस्थान, बिहार, बंगाल इत्यादि अनेक जगहों से लोहे के प्रचलन के पुरातात्त्विक प्रमाण मिलते हैं, परंतु कृषि में प्रयुक्त होनेवाले उपकरण नहीं मिले हैं। इसका एक कारण यह था कि लोहे का प्रयोग इस समय तक मुख्यतया घरेलू उपकरणों या युद्ध के सामानों के रूप में ही होता रहा। यह भी संभव है कि जंग लगने से औजार नष्ट हो चुके हों। इस समय के साहित्यिक ग्रंथों से भी धातु या लोहे (**श्याम अयस्**) के कृषि में प्रयोग का प्रमाण मिलता है। (अतरंजीखेड़ा, जिला एटा, उत्तरप्रदेश से उत्खननों के दौरान लोहे के कुछ उपकरण उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें संभवतः कृषि में व्यवहार किया जाता था, परंतु लोहे का बना हल का फाल जखेड़ा, जिला एटा, उत्तरप्रदेश से मिला है। यह फाल संभवतः 500 ई० पू० के लगभग का है।)

साहित्यिक स्रोतों में कृषि की महत्ता को प्रदर्शित करनेवाले अनेक प्रसंग हैं। **शतपथब्राह्मण** में कृषि-कर्म की विशद विवेचना की गई है। **काठकसंहिता** में 24 बैलों द्वारा हल खींचे जाने का उल्लेख मिलता है। हल कठोर लकड़ियों (खदिर, कत्था) के बनते थे और अत्यंत भारी होते थे। इसीलिए, इन्हें खींचने के लिए अनेक बैलों की जरूरत पड़ती थी। भारी हल से चूँकि जमीन गहरी जोती जाती थी, इसलिए फसल भी भरपूर होती थी। चावल, जौ, गेहूँ एवं जंगली किस्म के गन्ने की खेती के प्रमाण क्रमशः अतरंजीखेड़ा और हस्तिनापुर से मिले हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के दलहन, शाक-सब्जी इत्यादि भी उपजाए जाते थे। खेतों की उर्वरता बढ़ाने के लिए गोबर की खाद का व्यवहार किया जाता था। खेतों की सिंचाई का भी प्रबंध किया गया। इन प्रयासों के फलस्वरूप किसान अपनी आवश्यकता से अधिक (surplus) अनाज पैदा करने लगे, जिसके आधार पर समाज के दो अनुत्पादी वर्गों (ब्राह्मण एवं क्षत्रिय) का भरण-पोषण हो सका, राज्य का संगठन मजबूत हुआ और शिल्प एवं व्यवसाय-वाणिज्य की प्रगति हुई।

यद्यपि उत्तर-वैदिककाल में कृषि आर्यों का मुख्य व्यवसाय बन गया, तथापि इससे पशुपालन का महत्त्व कम नहीं हो गया। कृषि के समुचित विकास के लिए भी पशुओं की आवश्यकता थी। अतः, पशुपालन पर भी इस काल में ध्यान दिया गया। **अथर्ववेद** में पशुओं की वृद्धि के लिए अनेक प्रार्थनाएँ की गई हैं। गाय-बैल के अतिरिक्त भैंस भी अब पालतू मवेशी बन गई। पशुओं से बोझ ढोने, हल खींचने का काम लिया ही जाता था, इनसे आर्यों को मांस, दूध, ऊन, चमड़ा और हड्डी मिलते थे, जिनका विभिन्न व्यवसायों में उपयोग होता था।

उत्तर-वैदिक साहित्य में कृषि, पशुचारण के अतिरिक्त अनेक प्रकार के व्यवसायों का भी उल्लेख मिलता है। **वाजसनेयी संहिता** में मछुआ, सारथी, गड़ेरिया, स्वर्णकार, मणिकार, रस्सी बटनेवाले, टोकरी बुननेवाले, धोबी, लुहार, जुलाहा, रंगसाज, कुम्भकार आदि व्यवसायियों का उल्लेख मिलता है। इस समय मिट्टी के एक विशेष प्रकार के बरतन बनाए जाते थे, जिन्हें **चित्रित धूसर मृद्भांड** (Painted Grey Ware, PGW) कहा जाता है। चाक (potter's wheel) की सहायता से मिट्टी के बरतन बनाए जाते थे। साहित्यिक स्रोतों में **कुलालों** (कुम्भकारों) और **कुलाल-चक्रों** (चाक) का उल्लेख मिलता है। सूत कातने एवं वस्त्र बुनने का व्यवसाय बहुत अधिक विकसित था। सूत कातने का कार्य मुख्यतः स्त्रियाँ ही करती थीं। बढ़ई, चर्मकार और धातुकर्मी (ताँबा, लोहा, सोना, चाँदी इत्यादि) का व्यवसाय भी प्रचलित था। विभिन्न व्यवसायी संभवतः समूहों में संगठित थे। इन संगठनों एवं इनके प्रधान के लिए **गण, गणपति, श्रेष्ठी** जैसे शब्दों का व्यवहार किया गया है।

विभिन्न व्यवसायों के विकास ने प्रारंभिक व्यापार-वाणिज्य को भी प्रश्रय दिया। साहित्यिक ग्रंथों में जल एवं स्थल-मार्गों से व्यापार करने का जिक्र किया गया है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि इस युग में नगरों एवं विदेशी व्यापार का भी उदय हुआ, परंतु उपलब्ध साक्ष्य इनकी पुष्टि नहीं करते। यद्यपि **सतमान, निष्क, कृष्णल** एवं **पाद** शब्दों का उल्लेख मिलता है,

तथापि सिक्कों के प्रचलन का कोई पुरातात्त्विक प्रमाण नहीं है। व्यापार विनिमय के आधार पर छोटे पैमाने पर होता था। **शतपथब्राह्मण** से पता चलता है कि कर्ज देने एवं सूद लेने की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के बावजूद आर्यों की अर्थव्यवस्था अब भी ग्रामीण ही थी। इसे शहरी अर्थव्यवस्था नहीं कहा जा सकता है। ज्यादा-से-ज्यादा हम इसे **प्राक्-शहरी अर्थव्यवस्था** (proto-urban economy) का नाम दे सकते हैं।

4.4(d). धर्म पर पुरोहितों का आधिपत्य एवं धार्मिक कर्मकांडों की प्रधानता *(Religious Life)*

उत्तर-वैदिककाल में आर्यों के धार्मिक जीवन एवं आस्थाओं में भी महान परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। इस समय की धार्मिक आस्थाएँ भी तत्कालीन भौतिक जीवन से प्रभावित थीं। वैदिक काल का सीधा-सादा धार्मिक जीवन अब आडंबरपूर्ण, रूढ़िवादी और कर्मकांडप्रधान बन गया। धार्मिक जीवन पर पुरोहितों का वर्चस्व स्थापित हो गया। एक अर्थ में वे ही धर्म के मालिक बन बैठे। उत्तर-वैदिककाल के अंतिम चरण में पुरोहितों की प्रभुता एवं कर्मकांडों की निस्सारता के विरोध में **उपनिषदों** ने आवाज उठाई।

ऋग्वेद में जिन प्रमुख देवताओं (इंद्र, वरुण, अग्नि, मित्र, इत्यादि) को प्रधान माना जाता था, उनका स्थान अब गौण पड़ गया। उनकी जगह नए देवताओं यथा—शिव या रुद्र, विष्णु या नारायण, प्रजापति या ब्रह्मा ने ले लिया। देवताओं की संख्या में भी वृद्धि हुई और उनमें से अनेक दिग्पाल, गंधर्व, यक्ष आदि के रूप में (देवताओं के सहायक) सामने आए। पितृसत्तात्मक तत्त्वों के सबल होने से उषा एवं अदिति जैसी देवियों का महत्त्व भी कम हो गया। उनकी जगह अब विभिन्न यक्षिणियों एवं अप्सराओं का आविर्भाव हुआ। देवताओं में सबसे प्रमुख स्थान प्रजापति को दिया गया। उसे विश्व का सृष्टिकर्ता माना गया। प्रजापति द्वारा वराह रूप में पृथ्वीधारण करने तथा कूर्म बनने की कल्पना प्रचलित हुई जिसने आगे अवतारवाद को बढ़ावा दिया। रुद्र (पशुओं का देवता) शिव या पशुपति कहलाने लगा। विष्णु पालनकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार, उत्तर-वैदिककाल में **त्रिमूर्ति** की भावना का विकास हुआ। ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही प्रमुख देवता बन गए। सामाजिक वर्गीकरण के साथ-साथ कुछ देवताओं का संबंध वर्णविशेष से स्थापित हो गया। उदाहरणस्वरूप पूषन्, जो पहले मवेशियों का देवता था, अब मुख्यतया शूद्रों का ही देवता बन सका। प्रो॰ रामशरण शर्मा के अनुसार, उत्तर-वैदिककाल में मूर्तिपूजा की प्रथा भी आरंभ हो चुकी थी[1]; परंतु मूर्तिपूजा के निश्चित पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। साहित्यिक स्रोतों में भी मूर्तिपूजा का स्पष्ट उल्लेख इस समय नहीं मिलता। यहाँ इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि यद्यपि मूर्तिपूजा के पुरातात्त्विक साक्ष्य नहीं मिलते हैं तथापि अतरंजीखेड़ा से प्राप्त कुछ वृत्ताकार अग्निकुंड और कौशांबी से मिला यज्ञ वेदी इन कर्मकांडों की पुष्टि करते हैं।

धार्मिक क्षेत्र में जो सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया, वह था पुरोहितों का प्रभाव और कर्मकाण्डों की जटिलता में वृद्धि। समाज के अनुत्पादी वर्गों—ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों—ने बिना श्रम किए ही उत्पादन में हिस्सा बँटाने और समाज पर अपनी धाक एवं श्रेष्ठता बनाए रखने के लिए आपस में समझौता कर लिया। ब्राह्मण अपनी धार्मिक श्रेष्ठता और क्षत्रियों के प्रभाव को बनाए रखने के लिए नए हथकंडों का सहारा लेने लगे। इसके बदले उन्हें धन एवं प्रतिष्ठा मिली। क्षत्रिय ब्राह्मणों के संरक्षक बन गए। ब्राह्मणों ने भी धन प्राप्त करने एवं राजा की शक्ति को स्थापित और सुदृढ़ करने के लिए यज्ञों का आयोजन आवश्यक बना दिया। फलस्वरूप, इस युग में तप और भक्ति की जगह यज्ञ एवं बलि पर ज्यादा बल दिया जाने लगा। यद्यपि देवताओं की पूजा अब भी उसी उद्देश्य से की जाती थी, जिस उद्देश्य से **ऋग्वैदिक** काल में, तथापि अब पूजा की विधि बदल गई। यद्यपि देवताओं की स्तुति में अब भी मंत्रोच्चारण होते थे, तथापि अब मंत्रों की शक्ति से अधिक यज्ञ और बलि की शक्ति पर महत्त्व दिया गया। यज्ञों के संपादन के लिए अब पुरोहितों का सहयोग आवश्यक बन गया। चाहे यज्ञ छोटे हों

1. **प्राचीन भारत**, पृ॰ 57

या बड़े, पुरोहितों की सहायता के बिना इन्हें पूरा नहीं किया जा सकता था। ये यज्ञ बलिप्रधान और खर्चीले थे। इन यज्ञों को संपादित करवाने के निमित्त पुरोहितों को बहुत अधिक दान-दक्षिणा प्राप्त होता था। उदाहरणस्वरूप, **राजसूय यज्ञ** (अभिषेक) करवानेवाले प्रधान पुरोहित को 2,40,000 गाएँ दान में दी जाती थीं। इसके साथ-साथ उन्हें सोना, वस्त्र एवं सामान (संभवतः जमीन भी) भी दान में दिए जाते थे। इस दान के बल पर पुरोहित समाज के सुविधाभोगी और संपन्न वर्ग में आ गए। साहित्यिक ग्रंथों में इस समय जिन प्रमुख यज्ञों का उल्लेख मिलता है, वे हैं **वाजपेय, राजसूय** और **अश्वमेध**। ये सारे यज्ञ राजाओं (क्षत्रियों) के लिए ही सुरक्षित रखे गए। यद्यपि इन यज्ञों का उद्देश्य राजा की शक्ति और उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि करना था, तथापि साथ-साथ इनका उद्देश्य कृषि-उत्पादन को भी बढ़ाना था। अतः, ब्राह्मणों और क्षत्रियों दोनों ने कर्मकांडों को बढ़ावा दिया। क्षत्रियों द्वारा कर्मकांडों को बढ़ावा देने का एक अन्य कारण यह था कि "इनके माध्यम से वे आर्य सभ्यता की सीमा पर रहनेवाले अनार्य प्रमुखों के बीच अपना प्रभुत्व बढ़ा पाते थे।" इसकी पुष्टि **अथर्ववेद** तथा **पंचविंशब्राह्मण** से होती है जहाँ मगध के व्रात्य मुखिया को वैदिक समाज में प्रवेश देने के लिए कर्मकांड का आयोजन किया गया है। ये यज्ञ बहुत अधिक खर्चीले थे तथा लंबे समय तक चलते रहते थे। यज्ञों के साथ-साथ विभिन्न संस्कारों के पालन पर भी बल दिया गया। ये संस्कार गर्भाधान से मृत्युपर्यन्त होते रहते थे। इन सभी ने पुरोहितों (ब्राह्मणों) का प्रभाव समाज पर स्थापित कर दिया। उनकी संख्या और श्रेणियों में भी वृद्धि हुई। अब उनमें से कुछ **होतृ, उद्गाता, अध्वर्यु** के नाम से विख्यात हुए। वे राजा के प्रमुख सलाहकार भी बन गए।

उत्तर-वैदिक युग में जहाँ एक तरफ यज्ञ, बलि एवं कर्मकाण्डों की प्रधानता बढ़ती जा रही थी, वहीं एक नई दार्शनिक विचारधारा का भी उदय हुआ, जिसने यज्ञों और बलियों को निरर्थक बताकर तप एवं ज्ञान का मार्ग सुझाया। इस विचारधारा ने ब्राह्मणों के कर्मकांड पर गहरा आघात कर छठी शताब्दी ई० पू० के धर्मसुधार-आंदोलन की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। **आरण्यकों** में यज्ञ-बलि की अपेक्षा तप के महत्त्व को बताया गया। इसके अनुसार शरीर को तपस्या द्वारा कष्ट देकर ही **परमब्रह्म** या **मोक्ष** की प्राप्ति हो सकती थी। तपमार्ग के ठीक विपरीत **उपनिषदों** ने ज्ञानमार्ग का रास्ता दिखाया। "उपनिषदीय विचारकों ने यज्ञ आदि अनुष्ठानों को ऐसी कमजोर नौका बताया है, **जिसके** द्वारा यह भवसागर पार नहीं किया जा सकता। उन्होंने इस उद्देश्य के लिए इंसान को जीवन के चक्र से मोक्ष दिलाने के लिए ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन किया।" **उपनिषदों** ने **अद्वैतवाद** का सिद्धांत प्रतिपादित किया। **आत्मज्ञान** द्वारा ही **परमब्रह्म** या **मोक्ष** की प्राप्ति की जा सकती है। षड्दर्शन का बीजारोपण भी इसी काल में हुआ। इन नए विचारों ने धार्मिक क्षेत्र में क्रांति ला दी।

अगर हम **ऋग्वैदिक** काल और **उत्तर-वैदिक** काल का तुलनात्मक अध्ययन करें, तो यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि आर्यों की प्रारंभिक सभ्यता में जिन मूल तत्त्वों की स्थापना हुई थी, उत्तर-वैदिक काल में उनमें परिवर्तन, संवर्धन एवं संशोधन हुए। ये नए तत्त्व प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के आधारभूत तत्त्व बन गए।